



पाश्चात्य संगीत में कंठ संस्कार का महत्व

डॉ. मनीष डंगवाल

एसोसिएट प्रोफेसर, संगीत विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गोपेश्वर, चमोली, उत्तराखंड

ABSTRACT

पाश्चात्य संगीत में कंठ संस्कार केवल कलात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं है, बल्कि यह गायन के पीछे का विज्ञान है। यह गायक को एक लंबी व्यावसायिक लंबी आयु (Career Longevity) प्रदान करता है, जिससे वह उम्र के बढ़ने पर भी अपनी आवाज की गुणवत्ता को बनाए रख सकता है। आज के वैश्विक दौर में, भारतीय गायक भी अपनी बहुमुखी प्रतिभा (Versatility) बढ़ाने के लिए पाश्चात्य कंठ संस्कार की तकनीकों को अपना रहे हैं। पाश्चात्य संगीत में कंठ संस्कार गायन की आधारशिला है। यह केवल स्वर को मधुर और प्रभावशाली बनाने का साधन नहीं, बल्कि स्वर स्वास्थ्य, तकनीकी दक्षता, शुद्ध उच्चारण, विस्तृत स्वर सीमा और कलात्मक अभिव्यक्ति का भी प्रमुख आधार है। नियमित एवं वैज्ञानिक अभ्यास के माध्यम से गायक अपनी गायन क्षमता को विकसित करता है और लंबे समय तक स्वस्थ एवं प्रभावशाली स्वर बनाए रख सकता है। इसलिए पाश्चात्य संगीत की शिक्षा और प्रदर्शन में कंठ संस्कार का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है।

प्रस्तावना:

मानव शरीर को श्वाण वीणा या श्वारीर वीणा कहा गया है, क्योंकि मानव शरीर से जब कोई ध्वनि निकलती है, तो उसकी प्रक्रिया वही होती है जो एक वाद्य से ध्वनि निकलने की होती है। शरीर से निकलने वाली ध्वनि को शब्द और वाद्य से निकलने वाली ध्वनि को श्वर कहा जाता है। शरीर के द्वारा निकलने वाली ध्वनि जब संगठित होकर किसी निश्चित 'पिच' (Pitch) पर प्रसारित की जाती है, तो माधुर्य के कारण उसे भी श्वर की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। कंठ संस्कार या श्वोयस कल्परय जिसका अर्थ संगीतोपयोगी परिष्कृत आवाज है के लिए कहा गया है, की आवाज मोटी, पतली, कर्कश या विश्रृंखल कैसी भी हो, उचित साधना और संयम के द्वारा उसे सुरीला और आकर्षक बनाया जा सकता है। वर्तमान में इसका अवीष्कार पाश्चात्य संस्कृति द्वारा माना जाता है, परंतु ऐसा नहीं है कि इससे पहले यह भारत में नहीं थी।

जब भारत में वेदपाठ की शिक्षा दी जाती थी तो उसी के माध्यम से बच्चों में कंठ स्वतः संस्कारित हो जाता था। उदात्त(ऊँचा), अनुदात्त(नीचा) और स्वरित(सम) स्वरों के प्रयोग द्वारा उच्चारित किए जाने वाले मन्त्र तभी सार्थक होते थे, जब उन्हें निश्चित ध्वनि, परिमाण और निश्चित वलय घातों द्वारा प्रयुक्त किया यही कारण है कि भारत में कंठ संस्कार का कोई अलग शास्त्र विकसित करने की आवश्यकता नहीं समझी गई। ध्वनि विज्ञान के पूरे तथ्य, सामगान में निहित थे। शहिकार के स्वरूप में श्ओम्ह का उच्चारण गति और ओज प्रदान करता था। उद्गीथ के स्वरूप श्ओम्ह के उच्चारण से लय व्यवस्थित होती थीय इस प्रकार स्वर की ऊर्जा और गति नियंत्रित होकर गायन को प्रभावशाली बनाती थी। इससे आधार स्वर घनीभूत होता था, जिसके गर्भ में सभी स्वर और श्रुतियाँ परिपक्व होती थीं। समुचित स्वर और वर्णों से विहीन मन्त्र का प्रयोग निरर्थक माना जाता था।

“स्वयं राजन्ते इति स्वराः”, अर्थात् ‘स्वर’ वे हैं, जो स्वयं विराजित होते हैं।

वैदिक काल में स्वर का प्रयोग मुख्यतः अ इ उ रूप में किया गया है और गौण रूप में संगीत मूलक ध्वनियों के लिए, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित शब्दों का प्रयोग किया गया है। वर्ण साधना से ही स्वर को नियंत्रित करने की प्रथा भारत में रही, ताकि संगीत-प्रधान स्वर और साहित्य-प्रधान वर्ण एक-दूसरे के पूरक बनकर ओजस्वी बन सकें। यहाँ एक स्वर से युक्त गान ‘आर्चिक’ कहलाता है, दो स्वरों से युक्त गान ‘गाथिक’ कहा जाता है एवं तीन स्वरों से युक्त गान श्शामिक कहालाता है। इन्हीं से आगे चलकर संगीत के क्रमशः सात स्वरों का विकास हुआ है। इन सातों को वैदिक काल में ‘यम’ कहा जाता था। आज इसे ‘सप्तक’ कहते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति का मूल श्वाक् को माना गया है। इसके चार प्रकार हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इसी वाक् को भारतीय वाङ्मय में शब्द, ध्वनि, नाद आदि संज्ञाओं से अभिहित किया गया है। वाक् के आधार पर समस्त संसार का व्यवहार होता है। इसके दो रूप हैं—नादात्मक और वर्णात्मक। आवेग रूप चित्तवृत्ति का सूचक नादात्मक वाक् है और वर्ण से सम्बन्धित होने के कारण विचार का सूचक वर्णात्मक वाक् है। नादात्मक वाक् मुखराग स्तर का है। अर्थात् जिस तरह भावों के आवेग में अश्रु, पुलक, कम्प, स्वेद इत्यादि सात्विक भाव शरीर में बिना प्रयत्न के स्वतः ही प्रकट होते हैं, उसी प्रकार हर्ष, शोक और क्रोध आदि के आवेग में उन चित्तवृत्तियों की सूचक ध्वनियाँ, शब्द रहित होकर केवल ध्वनियों के रूप में मनुष्य के मुँह से स्वतः निकल पड़ती हैं। इसी प्रकार की ध्वनियाँ संगीत के मूल में भी हैं। उन्हीं के कारण दूर से सुनकर पता लग जाता है कि ध्वनि हर्ष की सूचक है या शोक की। इन्हीं ध्वनियों से वक्ता के चित्त के भावों का उद्घोष भी होता है।

वैदिकाल में बाल्काल से ही इस बात की शिक्षा दी जाती थी कि प्रत्येक वर्ण पर स्वर का कितना वजन देना है तथा ध्वनि की एकरूपता कायम रखने के लिए अन्तिम वर्ण पर कितनी देर तक उच्चारण करना है इत्यादि। स्त्रियों जिनका कंठ स्वभाव से ही मधुर होता है, समाज में सर्वाधिक गायन इन्हीं द्वारा होता था। यही कारण था कि भारत में कंठ साधना हेतु विशेष प्रावधान की आवश्यकता नहीं पड़ी। इसी स्थान पर पाश्चात्य देशों में प्राचीन काल से पुरुष

ही गायन करते थे। मनोरंजक बात यह है कि जब भारत में पुरुषों द्वारा गायन का प्रचार हुआ तो यहाँ साधना पर बल दिया गया और पाश्चात्य देशों में इसी समय स्त्रियों के गायन का प्रचलन हुआ तो वहाँ उनके अनुसार कण्ठ साधना की आवश्यकता समझी गई। भारत के विभिन्न संगीत घरानों में भी अलग-अलग ढंग से स्वर-विकास की परम्पराएँ विकसित हुई। ओंकार नाथ ठाकुर, बड़े गुलामअली खाँ, अमीर खाँ, फैयाज खाँ, अब्दुल करीम खाँ, कुमार गंधर्व, भीमसेन जोशी, केसरबाई केरकर, किशोरी अमोनकर, विनायकराव पटवर्धन, नारायणराव व्यास, कृष्णराव शंकर पंडित इत्यादि सभी गायकों के कण्ठ स्वर में अलग-अलग विशेषताएँ दिखाई देती हैं और उनका प्रभाव भी अलग ढंग से पड़ता है, यह उनके घरानों की विभिन्नता को ही दर्शाता है। इन्हीं विभिन्न घरानों से विभिन्न संस्कारों का अस्वीकार हुआ। निश्चित तौर पर भारतीय कण्ठ संस्कार का मूल ओंकार ध्वनि में निहित है, जो भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्राण है। पाणिनि, याज्ञवल्क्य शिक्षा, नारदीय शिक्षा, भरत नाट्यशास्त्र, स्वरवर्ण-शास्त्र, संगीत रत्नाकर, लिग पुराण, स्थानांग सूत्र, चारुदत्त, जीवक चितामणी (तमिल) पदेशशास्त्र, कल्लदं (तमिल), पातंजलि महाभाष्य आदि ग्रन्थों में भारतीय कण्ठ-संस्कार से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री मिलती है।

कंठ संस्कार: पाश्चात्य परम्परा-

पाश्चात्य जगत में तेरहवीं शताब्दी में ध्वनि की विविधता और उसके विज्ञान की ओर ध्यान गया। मैगिस्टर लैम्बर्ट के अनुसार गले को सिकोड़कर और फैलाकर संगीत प्रस्तुत किया जाता था। सन् १४५० में फ्लेमिश स्कूल का उदय होने पर सबसे पहले मंद्र और अति मंद्र सप्तक की गंभीर ध्वनि को खोजा गया। सत्रहवीं शताब्दी में ऑपेरा के प्रचार के साथ ध्वनि के विविध रूप भी प्रचलित हुए। १८४० में इन्होंने अपनी विचारधारा फॉन्च इंस्टीट्यूट के समक्ष रखी, जिसका प्रचार १७४७ से इनके शिष्य जैनोलिड, मैथिलदे मार्चेशी और जूलियस स्टॉकसिट आदि के द्वारा हुआ।

एक अन्य पाश्चात्य दार्शनिक गरशिया ने १०१ वर्ष की उम्र पाई, अतः उन्होंने उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी के बड़े संगीतकारों के उदय और अस्त को देखा। इनके ध्वनि विज्ञान से सम्बन्धित अनुसंधान का लाभ संगीतकारों की अपेक्षा शरीर-शास्त्रियों को अधिक मिला। परिणामतः संगीत जगत् में इनकी शिक्षा-प्रणाली और अनुभवों को इनके सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक मान्यता मिली।

इसमें भी भावना प्रधान स्थितियों का वैज्ञानिक विश्लेषण सम्भव न हो सका। इसलिए कंठ-संस्कार से सम्बन्धित शिक्षकों के उपदेश अधिक कारगर सिद्ध नहीं हुए। कंधे तक हाथ उठाने की बात तकनीकी ढंग से बताई जा सकती है, लेकिन उसमें जो लोच पैदा करने को भाषा या तकनीकी ढंग द्वारा ठीक प्रकार नहीं समझाया जा सकता। एक बच्चा जब रोता है तो उसकी ध्वनि कर्कश होती है ३ लेकिन प्रसन्नता के समय उसकी वही आवाज मधुर हो जाती है। कर्कशता और - मधुरता का केन्द्र उसके मस्तिष्क में है जो सहज रूप से बिना किसी प्रयास के स्वयं संचालित होता रहता है। यह केन्द्र सभी में होता है इसलिए तनावरहित होकर स्वर निकाला जाए तो निश्चय ही वह मधुर निकलेगा। उसे सुधारने की आवश्यकता ही महसूस न होगी। लेकिन प्रश्न यह पैदा होता है कि, यदि उपरोक्त कथन ठीक

है तो सभी लोग मधुर आवाज में क्यों नहीं गाते? इसका उत्तर यही है कि स्नायविक तनाव द्वारा खराब आवाज के लिए जिम्मेदार है। इसी प्रकार खराब ध्वनि से हमारे स्नायुओं का तनाव और बढ़ता है। अर्थात् दोनों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित होकर एक दूसरे को हानि पहुँचाते रहते हैं। इसीलिए स्वर-साधना में तनाव रहित एकाग्रता आवश्यक है। गाने की इच्छा होने पर भी जब आप केवल मन में रखते हैं, तो इससे तनाव उत्पन्न होता है। इसके विपरीत गाने की इच्छा होते ही आप गा पड़ते हैं तो आपको लगेगा कि आप में वाकई गायन की प्रतिभा है और आपका स्वर मधुर है। इस गुण को पहचानकर स्वर का विकास बहुत तेजी से किया जा सकता है। शरीर सदैव विचारों से संचालित रहता है और कभी-कभी शरीर की स्थितियों के अनुसार हमारे विचार बन जाया करते हैं। जब कभी विचार और शरीर में एकरूपता नहीं आ पाती, तभी किसी न किसी उलझन या रोग का जन्म होता है। आवाज का सुरीला पन बढ़ाने के लिए यह एक हितकर सुझाव है, की आवाज निकालते समय केवल ध्वनि में लीन होने का अभ्यास होना चाहिए, न कि ध्वनि को किस प्रकार निकाला जा रहा है इसका चिन्तन किया जाए।

पाश्चात्य विद्वानों ने गाते समय साँस लेने की अलग-अलग विधियाँ बताई हैं। जैसे- 'अपर चेस्ट ब्रीदिंग', 'मिडिल चौस्ट ब्रीदिंग' तथा श्वायफामिक ब्रीदिंग आदि। इनमें 'डायफामिक ब्रीदिंग' को सर्वश्रेष्ठ माना गया है जिसे भारतीय श्वाभिगत श्वाँस का पर्याय कह सकते हैं। भारत में प्रायः बैठकर गाने की प्रथा है, जिससे की शरीर स्वतः कुछ आगे को झुक जाता है। इससे पेट की मांसपेशी सिकूड़ जाती हैं और फेंफड़े दब जाते हैं। शरीर में एक अनावश्यक तनाव पैदा हो जाता है। यदि मेरुदण्ड सीधा रखा जाय तो फेंफड़ों को पूरी तरह फैलने का अवसर मिलता है, जिससे गायन सहज हो जाता है। पाश्चात्य पद्धति में खड़े होकर गाने की प्रथा है, इसलिए वहाँ यह कठिनाई नहीं होती।

आवाज के निर्माण में सहयोग देने वाले अवयवों को डॉ. स्टेनले ने तीन हिस्सों में बाँटा है-

1. गति देने वाला (Actuator), यह स्वर निर्माण का शक्ति स्रोत होता है। इसमें मुख्य रूप से फेफड़े डायफ्राम (Diaphragm) तथा श्वास की मांसपेशियाँ शामिल होती हैं।

2. आंदोलन पैदा करने वाला यह भाग स्वर का वास्तविक निर्माण करता है। इसमें स्वरयंत्र तथा स्वरतंत्रियाँ (Vocal Folds/Vocal Cords) सम्मिलित होती हैं।

3. प्रतिध्वनि एवं उच्चारण करने वाला यह भाग उत्पन्न ध्वनि को गुँज (Resonance), स्पष्टता तथा शब्दों का रूप प्रदान करता है। मुख्य अवयवरू

मुखगुहा (Oral Cavity) नासिका गुहा (Nasal Cavity) ग्रसनी (Pharynx)

जीभ (Tongue) होंठ (Lips) दाँत (Teeth) तालु (Palate)

डॉ. स्टेनले के अनुसार स्वर निर्माण एक समन्वित प्रक्रिया है, जिसमें श्वास तंत्र (Actuator) ऊर्जा प्रदान करता है, स्वरतंत्रियाँ (Vibrator) मूल ध्वनि उत्पन्न करती हैं, और प्रतिध्वनि एवं उच्चारण तंत्र (Resonator and Articulator) उस ध्वनि को मधुर, स्पष्ट तथा प्रभावशाली आवाज में परिवर्तित करते हैं। इन तीनों अवयवों के संतुलित कार्य के बिना उच्च गुणवत्ता का गायन या भाषण संभव नहीं है।

भारतीय पद्धति में गायक तरह-तरह की मुखाकृतियाँ बनाता है। हाथ-पैर इत्यादि का संचालन करता है। राग व ताल को शुद्धता का ध्यान रखता है, बोर पैर के अंगठे आँख के इशारे या ठोड़ी हिलाकर लय को संचालित करता है। तबला या सारंगी वादक की ओर ध्यान देता है और व्यर्थ की बातों में अपने विचारों को उलझाए रखता है। इसलिए उसके स्नायु सदैव तनावग्रस्त रहते हैं। स्वर माधुर्य पर इसका अच्छा असर नहीं पड़ता। पाश्चात्य संगीतकार इन झंझड़ों से मुक्त रहकर केवल अपने संगीत में खोया रहता है। इसीलिए उसकी आवाज अधिक प्रभावशाली सिद्ध होती है। अन्तर इतना ही है कि भारतीय संगीतकार नई सृष्टि करने में दिलचस्पी रखता है जबकि पाश्चात्य संगीतकार पूर्व निश्चित बंदिश को हू-ब-हू प्रस्तुत करता है। लेकिन यहाँ हमारा आशय आवाज से है।

ईसाई धर्म के प्रचार के साथ पश्चिम में कण्ठ-संस्कार या कंठ-साधना (Voice Culture) का प्रादुर्भाव हो गया था। शरीर विज्ञानियों की सहायता से उन्हें कण्ठ की रचना का ज्ञान हो गया था, किंतु ध्वनि-निर्माण और उससे उत्पन्न गुण-दोषों के बारे में वे प्रायः अनभिज्ञ रहे। वैज्ञानिक संगीतज्ञों में एमिल बँके, अर्नेस्ट जी. व्हाइट, एच. एच. हलबर्ट तथा जे. लुइस ओर्टन के नाम उल्लेखनीय हैं, लेकिन कंठ संस्कार के बारे में इन सबके पश्चात् डॉ. डी. स्टेनले ने जिस सिद्धान्त को प्रस्तुत किया वह अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ। चिकित्सा विज्ञान के कारण यह सिद्ध हो गया था कि आवाज का निर्माण भी शारीरिक क्रियाओं की तरह ही संचालित होता है। प्रत्येक मांसपेशी अपनी विरोधी मांस-पेशी (Antagonistic Muscle) की मदद से ही कार्य करती है। दोनों में से कोई यदि थोड़ी सी भी निष्क्रिय या चपल हो जाए तो प्रत्येक शारीरिक क्रिया कष्टप्रद हो जाती है।

संदर्भ-सूची

1. वॉइस कल्चर: ज्ञान एवं परम्परा (हिन्दुस्तानी संगीत) डॉ. कांता प्रसाद मिश्र ओम् पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली 2018
2. संगीत विज्ञान डॉ. लालमणि मिश्र भारतीय ज्ञानपीठ विभिन्न संस्करण 2003
3. संगीत और कंठ साधना पं. ओंकारनाथ ठाकुर संगीत कार्यालय, हाथरस
4. भारतीय संगीत के वैज्ञानिक आयाम डॉ. स्वतंत्र शर्मा कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली 2002
5. संगीत शास्त्र डॉ. शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे चौखम्बा प्रकाशन, 1991 विभिन्न संस्करण
6. संगीत विशारद (भाग 1-2) वसंतराव राजोपाध्ये, संगीत कार्यालय, हाथरस